(International Refereed)

दर्शनशास्त्र

'द्रष्टा' रिसर्च जर्नल (ISSN : 2277-2480)

वर्ष:2, अंक:7, (जून 2013-अगस्त 2013) (पृ.सं. 15-20)

समाज–दर्शन, लोक एवं लोक–कवि बाजे भगत

आचार्य शीलक राम
असिसटेंट प्रोफेसर
दर्शन–विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

शोध-आलेख सार

बाजेभगत के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हें अन्य सांगियों से अलग करती है तथा शिखरपुरुष बना देती है वह है उनकी जीवनशैली। हरियाणा की सांग परंपरा में ऐसे सांगी कम ही हुए हैं जिनकी जीवनशैली एवं जिनका आचरण शुद्ध, पवित्र एवं गायकी के अनुकूल था। मंच पर चढ़कर वैदिक सनातन आर्यों की जीवनचर्या का बखान करना लेकिन अपने निजी जीवन में शराब जैसी कुरीतियों का शिकार होना–कई ऐसे चापलूसों द्वारा बनाए गए ब्रह्मज्ञानी सांगियों से बाजेभगत कतई अलग हैं। वे जैसा कहते थे वैसा जीते भी थे तथा जैसा जीते थे वैसा ही कहते भी थे। बाजेभगत की दिनचर्या, जीवनशैली, आचरण गायन आदि सब ही धर्म, नैतिकता सामाजिका एवं अध्यात्म से ओतप्रोत थे। लोगों ने उन्हें 'बाजे भगत' वैसे ही नहीं कहा, वे वास्तव में 'भगत' ही थे। एक सांगी होते हुए भी उनका जीवन शुद्धता, शुचिता एवं सात्विकता से परिपूर्ण था। लोगों की मांग के अनुसार उन्होंने समझौता नहीं किया।

मुख्य-शब्द : लोक, दर्शन, अनुभूति, लोक-काव्य, धर्म, योग-साधना।

सर्वसाधारण हेतु जिस शब्द का सदा से सर्वाधिक महत्त्व रहा है वह शब्द है 'मनोरंजन' और जिन्हें संसार से समाधि तक की यात्रा करनी है उन हेतु जिस शब्द का सर्वाधिक महत्त्व रहा है वह है 'मनोभंजन'। हमारा क्षेत्र इस लेख में केवल मनोरंजन तक ही सीमित है। लोक-कलाओं का मनोरंजन से गहरा संबंध तब से ही रहा है जब से मनुष्य प्राणी ने जन्म लिया है। सांग सदा से किसी न किसी रूप में भारत में रहा है। लोगों का मनोरंजन करने के लिए समय-समय पर इसमें परिवर्तन तो हुए हैं लेकिन यह सब भी समय की मांग के अनुसार ही हुआ है। युग बदलते हैं, परिस्थितियां बदलती हैं तो उसके साथ-साथ मनोरंजन की विभिन्न कलाओं में भी परिवर्तन होता है क्योंकि समय की धारा के साथ जो कला नहीं चलती, वह समाप्त हो जाती है। सांगकला अपनी विशेषताओं एवं कमियों के साथ आज भी जीवित है। यदि वह डूबती हुई एवं समाप्त होती हुई दिखाई दे भी रही है तो इसका कारण अपने आपको सांगों का रक्षक कहने वालों की मूढ़ता, अल्पज्ञान, पूर्वाग्रह एवं अहंकार तथा सरकारों की तरफ से कोई किसी प्रकार का सहयोग न मिलना है। सांग हरियाणा प्रदेश का सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक रहा है। आधुनिक युग में भी सांगों के दर्शकों एवं रसिकों की कोई कमी नहीं है। लोग आज भी कोसों दूर से सांग देखने एवं सुनने को आते हैं। सांगों का जादू आज भी

हरियाणवी जनमानस पर राज कर रहा है। सांग परंपरा में किशनलाल, नेतराम, सरूपचंद, मांगेराम, अलीबख्स, दीपचंद, हरदेवा, लखमीचंद जैसे अनेक सांगी हुए हैं लेकिन बाजेभगत में जो बात थी वह अन्य किसी सांगी में देखने को नहीं मिलती। हरियाणा प्रदेश के लोक-कवियों का यदि उन्हें शिखरपुरुष कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। उनके सांगों की समसामयिकता आज भी पूरे यौवन से जीवित है। हरियाणवी लोक-काव्य में बाजेभगत का स्थान अद्वितीय है। हरियाणवी समाज पर उनकी पकड़ अत्यंत गहरी थी। उनके देहांत के 70 वर्ष पश्चात् आज भी लोग उनकी प्रशंसा करने में संकोच महसूस न करके गौरवान्वित महसूस करते हैं। उन्होंने सदैव सत्य को जीया तथा उसी को गाया थी। इसी संबंध में सांग 'पद्मावत' की ये पंक्तियाँ देखिऐ जिनमें पद्मावत अपनी सहेलियों से कहती है–

भूलै मतना जो अपणा धर्म सै आपका
तनै बेरा कोन्या वादी और संवाद का
तूं मतना मिथ्या गावै, गुरुबाजे का मन भावै तेरा
बोल कराल सहेली।।

सांग पद्मावत, रा. 13

सच के साथ परमात्मा होता है इस तथ्य को दमयंती के माध्यम से वे इस तरह से कहते हैं –

सत मत हारै पिया सत का साथी हर हो सै। टेक
ओ तीन लोक नाथ करते लावै ना घड़ी स्यात,
अर सै उस डोर धणी के हाथ,
वो डूबे नैं उभारै पिया जिस पै ने नजर हो सै।।

– सांग नल दमयंती, रा. 32

बाजेभगत के व्यकित्व की सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हें अन्य सांगियों से अलग करती है तथा शिखरपुरुष बना देती है वह है उनकी जीवनशैली। हरियाणा की सांग परंपरा में ऐसे सांगी कम ही हुए हैं जिनकी जीवनशैली एवं जिनका आचरण शुद्ध, पवित्र एवं गायकी के अनुकूल था। मंच पर चढ़कर वैदिक सनातन आर्यों की जीवनचर्या का बखान करना लेकिन अपने निजी जीवन में शराब जैसी कुरीतियों का शिकार होना – कई ऐसे चापलूसों द्वारा बनाए गए ब्रह्मज्ञानी सांगियों से बाजेभगत कतई अलग हैं। वे जैसा कहते थे वैसा जीते भी थे तथा जैसा जीते थे वैसा ही कहते भी थे। बाजेभगत की दिनचर्या, जीवनशैली, आचरण गायन आदि सब ही धर्म, नैतिकता सामाजिका एवं अध्यात्म से ओतप्रोत थे। लोगों ने उन्हें 'बाजे भगत' वैसे ही नहीं कहा, वे वास्तव में 'भगत' ही थे। एक सांगी होते हुए भी उनका जीवन शुद्धता, शुचिता एवं सात्विकता से परिपूर्ण था। लोगों की मांग के अनुसार उन्होंने समझौता नहीं किया। एक चतुर वैध रोगी के न चाहते हुए भी उसे वही औषधि देता है जो उस हेतु वास्तव में हितकारक हो। बाजेभगत ने भी एक समाज सुधारक की तरह गाया, प्रसिद्ध को प्राप्त करने हेतु नहीं। उस समय के एक प्रसिद्ध सांगी ने अश्लीलता, कामुकता, श्रृंगार, भोंडेपन आदि की सारी सीमाओं को प्रसिद्धि पाने हेतु तोड़ दिया था। लेकिन बाजेभगत ने सदैव मर्यादाओं का ख्याल करके ही गाया। वासना-प्रधान विषयों को भी उन्होंने सभ्य ढंग से गाया है। एक उदाहरण देखिए जिसमें मेनका और विश्वामित्र संवाद है–

हूर परी बतलावण लागी भर प्रेम की बाणी रस म्हं,
विश्वामित्र होश भूलग्या हो त्रिया के बस म्हं।। टेक।।
तेरे दिखे बिन सुणो ऋषि यो जी लगता ना मेरा,

मै बी राजी रहूं चकोर देख तेरा चंद्रमा सा चेहरा

भाइयां की सूं झूठ नहीं, तूं मेरा जी मुट्ठी मैं लेर्‌या,
तेरे प्रेम की फोज नैं मेरै दिया चोगरदे घेरा।
तनै ऐसा जाल प्रेम का गेरा, गई पक्षी तरियां फंस मैं।
तेरे प्रेम की चोट लागगी खाकै पड़्‌या गस मैं।।1
धूप गेर चाहे छाया म्हं मनै ले लिया तेरा सहारा
बिना बीर इस दुनिया में यो हो सै मर्द आवारा
भाइयां की सूं तेरे बिना मनै कुछ ना लाग्गै प्यारा
गया तिथि महीने भूल प्रेम म्हं कलेवार दोफारा,
तनै ऐसा विरह का शस्त्र मार्‌या गया जहर फैल नस-नस म्हं।।2।।
बाजेभगत मैं तेरी शरण म्हं दासी का प्रण निभाइऐ।
मेरे चित की चोरी करकै न हूर चली मत जाइए।
राजा जागी कै प्रेम नहीं मत मिलकै दगा कमाइए।
मेरे जान तलक का टाला ना तनै सिर दे दूं जो चाहिए
रोजाना इसे छंद गाइए ल्यूं खेल कूद और हंस मैं
मैं तेरा शूर तूं मेरी सरगम हमारा मिलन हुआ आपस म्हं।।3।।

- सांग शकुंतला-दुष्यंत, रा. 12

बाजेभगत की रचनाओं का अपना ही माधुर्य है। उनकी रचनाएं हर दृष्टि से पूर्ण हैं। जीवन का हर पक्ष पर उन्होंने समयोचित, सारगर्भित, सार्थक एवं सामंजस्यपूर्ण रागनियां बनाई एवं गाई हैं। 'बाजेभगत व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व' नामक पुस्तक में लेखक ने ठीक ही कहा है – ''ज्ञान चाहे कहीं से भी और किसी से भी मिला उन्होंने उस ग्रहण किया।" इनकी रचनाएं एक सजी-संवरी भारतीय नारी की तरह हैं जो शारीाक प्रदर्शन के स्थान पर सादगी, पवित्रता तथा साधारण आकर्षण द्वारा लोगों का चित्त चुरा लेती हैं। भगत जी के श्रृंगार रस में इतनी शालीनता मिलती है कि बाप-बेटा तथा बहन-भाई भी उसका एक साथ बैठकर आनंद ले सकते हैं' स्वंय बाजेभगत भी कहते हैं –

नुगरा चेला, गुरू द्रोही, डुबैं कालर कोरे,
हमने गुरु के चरण इसे विषधर चंदन के पोरे,
कहै बाजेराम गुरू धोरे ये सीखी बात बणणी,
चाहे मां बाबू - बेटी बाहण सुनो, इसी रागणी गाणी।।

- सांग गोपीचंद, रा. 5

बाजेभगत को वाणी एवं सुर का जादूगर कहा जाता है। यह गुण एक व्यक्ति में बहुत कम मिलते हैं। सुर अच्छा है तो ज्ञान नहीं है, ज्ञान बहुत है तो वाणी की मधुरता गायब मिलती है, यदि ज्ञान एवं वाणी का माधुर्य दोनों भी मिल जाएं तो उस व्यक्ति का व्यक्तित्त्व अच्छा नहीं मिलेगा। लेकिन बाजे के संबंध में कहा जाता है कि उनको सुर, व्यक्तित्त्व तथा ज्ञान की त्रिवेणी प्रसादस्वरूप परमात्मा से मिली हुई थी। उनके सम्मोहक व्यक्तित्त्व, मधुर गायनशैली, श्रोताओं को घंटों तक सम्मोहनविद की तरह बांधकर रखने की कला, हरियाणवी बोली में सनातन वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति को कहने की शक्ति हर प्रकार के श्रोताओं से संवाद

करने में प्रवीणता तथा ज्ञान के दंभ से सदैव दूरी बनाए रखना आदि गुणों के कारण आज भी बाजेभगत लोगों में पहले की तरह लोकप्रिय हैं। उनकी आवाज के संबंध में उपरोक्त पुस्तक में कहा गया है –

'ज्यों ज्यों रात चढ़ती जाती है बाजे भगत की आवाज त्यों-त्यों स्पष्ट और ऊंची होती जाती। प्रातः चार बजे के करीब तो नगाड़ों की घोर, बाजे के बोल और मोर का शोर तीनों चीज सुना करती।' सही गायन के संबंध में उन द्वारा निर्मित सांगों से कुछ उदाहरणों का अवलोकन करना ठीक रहेगा –

बाजेभगत गुणा करे, सही छंद नै चुना करे,
विश्वरूप सुणा करै जन की, राखी गज की लाज
सुहग साज बजावणा म्हं उनके गुण का रही.....।।

– सांग शकुंतला दुष्यंत, रा. 9

भगत बाजे का बताणा
लय अर सुर में गाणा
अरी महतारी, या लहरपरी हो, तेगे की अणी।।

–सांग शकुंतला दुष्यंत, रा. 31

कह बाजेभगत सिसाणे आळा ध्यान लगाले हर म्हं
सभा बीच गावणियां नै गाणा चाहिए लह सुर म्हं।।

–सांग कृष्ण जन्म, रा. 22

सीधे साद्या का बखत नहीं ऊतां के रहें डिठोरे,
कोए कह ठेस की, कोए कहै ही-ही, कोए कहै पार के छोरे,
एक दो का के जिक्र करूं, घर-घर गावणिया होरे,
ऊवें घड़वे ठाएं हांडै सै राह पेट भरण के टोहरे।
कह बाजेभगत उसका के गाणा, ना बोलण म्ह तासीर।।

-सांग गोपीचंद, रा. 12

भगत बाजे कहै भार्या हरके, देणे आले हैं शुभ फल के,
पिंगल के आधार सार जो हो लय-सुर से बाहर पिया,
इसा राग सभा म्हं गाइए ना।।

-सांग नल दमयंती, रा. 28

पूरी दुनिया में सास एवं बहू के झगड़े हैं। संसार का कोई भी हिस्सा उनसे रहित नहीं है। झगड़ों का रूप, प्रकार, ढंग एवं परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हो सकती हैं लेकिन झगड़े होते हैं सब जगह। हरियाणा का सामाजिक जीवन अन्य प्रांतों की अपेक्षा पुरुष प्रधान ही रहा है। स्त्री के प्रति हीन, निम्न एवं भेदभाव का व्यवहार हमारे यहाँ कहीं भी तथा कभी भी देखने को नहीं मिल सकता है। कन्या भ्रूण-हत्या ऐसी ही पुरुषप्रधान समाज की मानसिकता की देन है। हरियाणा में यह विकृति पूरे भारत की अपेक्षा कहीं अधिक है। सास एवं बहू के झगडे में एक पड़ोसन स्त्री की क्या सोच हो सकती है। इसका सजीव वर्णन एक रागनी के द्वारा बाजेभगत करते हैं। ऐसा सजीव, जीवंत एक तथ्यपूर्ण वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है–

दो बास्सण होगे तै खुड़कैं इसे कुणब्यां के मामले
तेरी बहू इज्जत तारैगी थाम्बी जा तै थाम्ब ले।।

बाजेभगत के समाज-दर्शन की यह भी विशेषशता है कि उन्होंने नारी को नर की दासी या गुलाम

न मानकर उसकी अर्धांगिनी, सहचरी, सहधर्मिणी व आधे अंग की साझी माना है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। किसी का किसी से कम या अधिक महत्त्व न होकर दोनों का समान महत्त्व है। दोनों सहयोगी व मित्र हैं। अवलोकन कीजिए उनकी कुछ पंक्तियों का–

नर बिन नारी दुखी रहै और नारी बिन नर तंग हो सै।
बीर-मर्द दुख-दुख के साझी जिंदगी भर का संग हो सै।
कहै बाजेभगत गृहस्थी का नारी बिन फीका रंग हो सै।
ईश्वर नै यो जोड़ा रच्या धर्म का दाहणा-बाहणा अंग हो सै।
उस कुल मैं किसी उमंग हो सै जिसनै ब्याही का ब्रह्म सताया रै।

– सांग शकुंतला-दुष्यंत, रा. 33

युग चाहे आज का हो या पूर्वकाल का–यथार्थ तो यह है कि जब तक किसी का वद् हस्त सिर पर नहीं होता, सफलता मिलती ही नहीं। हर जगह, हर संस्थान व हर संगठन में किसी न किसी रूप में सिफारिश, जान-पहचान व संबंधों का अपना महत्त्व है। औसत दर्जे के लोग सफल हो जाते हैं, लेकिन प्रतिभावान अटके रहते हैं–क्यों? क्योंकि औसत दर्जे के लोग सिफारिश, जुगाड़ व पहुँच का पूरा लाभ उठाने का भरपूर प्रयास करते हैं जबकि प्रतिभावान अपनी प्रतिभा के बल पर सफलता पाना चाहते हैं। प्रतिभा से अधिक जिस वस्तु की सफलता हेतु जरूरत नहीं होती, वह सिफारिश, जुगाड़ व पहुँच का लाभ उठाने की कुटिलता अकेली प्रतिभा किसी काम की नहीं है। आजकल के शिक्षा संस्थानों पर यदि थोड़ी भी नजर डाली जाए तो मालूम हो जाएगा कि छात्रों को शिक्षक निम्न कोटि का समझते हैं। शोध-छात्र तो सबसे निरीह प्राणी होते हैं। प्रतिभा के बल पर कोई भी शोध-छात्र शोध नहीं कर सकता। हाँ, बेवकूफ बनकर, सेवा-पानी करके चापलूसी करके तथा सिफारिश व रिश्वत का सहारा लेकर दुर्बुद्धि व उज्जड़ व्यक्ति शीघ्रता से पीएच.डी. आदि कर जाते हैं। शोध-छात्र बिन पैसों के नौकर होते हैं। हो सकता है बाजेभगत ने अग्रलिखित पंक्तियाँ किसी अन्य संदर्भ में कही हों, लेकिन यहाँ भी ये फिट बैठती हैं–

ज्ञान मिला करै गरदा होकर।
गुरु का शिष्य बिन पैसों का नौकर।
जिननै ठोक्कर सतगुरु की खाई।
भगत बाजे कह पदवी पाई।
गुरु की जो रहते टहल म्हं।।

–सांग कथा गोपीचंद, रा. 17

समाज में रहते हुए परिवेश से समन्वय बनाने हेतु एक व्यक्ति को अपनी जीवनशैली को अनेक रूपों में ढालना पड़ता है। समाज क्योंकि सामाजिक संबंधों का जाल है, अतः दूसरों के हित हेतु अपने हितों का बलिदान भी करना पड़ता है। स्वार्थ के साथ परहित का भी ध्यान रखा जाना जरूरी है। केवल स्वार्थपूर्ण जीवनशैली से बदले की भावना, ईर्ष्या, वैमनस्य व क्रोध को बढ़ावा मिलता है। पढ़िए बाजेभगत के समाज-दर्शन की अग्रलिखित सह-अस्तित्वपूर्ण पंक्तियों को–

अपणा जग म्ह हुया करै सै दूजे मान करे तैं।

–सांग कथा गोपीचंद, रा. 23

कोए धर्मशाला, मंदिर, बाग, बावड़ी, कुए, जोहड़ खुदावै।।

–सांग कथा गोपीचंद, रा. 26

धन-दौलत की कोई कितनी ही निंदा करे, लेकिन यह सच है कि इसके बिना जीवन की गाड़ी चल ही नहीं सकती। धन की कीमत कोई गरीब, असहाय, भूखा व बिमार ही जान सकता है। धन के बिना, जीवन व्यर्थ है और तो ताटर दान, पूजा पाठ, हवन-यज्ञ, धर्म-कर्म, योगसाधनादि भी धन के बिना असंभव है। स्वामी रामदेव, ओशो रजनदीश, राधास्वामी, श्री श्री रविशंकर आदि धर्मगुरु भी आज धन के बल पर ही अपना साम्राज्य खड़ा किए हुए हैं। अरबों रुपयों की संपत्ति इनके पास है। ये सब धन को व्यर्थ, माया व पाप कहकर इसकी निंदा करते हैं लेकिन स्वयं अथाह धन-दौलत इन्होंने एकत्र कर लिया है। धन की गति सर्वत्र है–

धन तैं बनते कुए बावड़ी, धन तैं महल अटारी।
धन तै मित्र-धन तै भोजन, धन तै सुंदर नारी।
धन तै हाथी, सुद अभ्यासी, धन का खेल तमाम।।

–सांग कथा गोपीचंद, रा. 28

इस तरह से लोककवि बाजेभगत सही अर्थों में लोक की भावनाओं को समझने वाले लोक-दार्शनिक थे। उनका समाज-दर्शन लोक की पीड़ाओं, विडंबनाओं, संवेदनाओं एवं अनुभूतियों से परिपूर्ण है।

दर्शनशास्त्र
(International Refereed) 'द्रष्टा' रिसर्च जर्नल (ISSN : 2277-2480)
वर्ष:2, अंक:7, (जून 2013-अगस्त 2013) (पृ.सं. 21-25)

Globalization Of Feminism And Its Importance

Dr. Jyothy Jampala
Research Fellow
Andhra University
Visakhapatnam (A.P.)

Abstract

Feminism analyzes the various types of resistance the women's movement has encountered. These issues include sex role stereotyping, women's self-image and public image, the social role of womanhood, and politics of patriarchal language. Feminist thought is centered round issues like women role in reproduction and the role of socialization in a male dominated social culture.

Key-Words : Feminism, Male and Female Nature, Socialization.

The history of mankind is a history of repeated injuries and usurpations on the part of man toward woman having indirect object the establishment of an absolute tyranny over her. [1] The first society for women's rights was founded in 1866 by a French Women, Maria Desraismas a well known feminist. By the turn of the Century many meetings and publication all over Europe highlighted the issue of women. The 1848 Seneca Falls Convention formally engaged the fight for 'women suffrage'.

Feminism is generally thought of as a phenomenon of the 19th and 20th centuries. Most Anglo-American studies of the women's movement acknowledge some forerunners in the English and French Revolution and in individual figures such as Anne Hutchinson. But only with Seneca Falls does a continuously developing body of feminist thought seem to emerge.

1. Feminism as a Social Reform Movement

For centuries the lives of women revolved around the holy-trinity husband, home, and family. However, when the great Revolution broke out in America in 1774, the women despite their domestic duties were forced to participate in revolutionary activities. This was a great burden; At every house women, including children, were making cartridges, running bullets, making wallets, baking biscuits, and at the same time, crying and bemoaning the fact that their husbands and sons had to fight for their liberation. They did not know if they see their men again. [2]

The 19th Century feminists saw far greater differences between the "male" and "female" nature than their present counter parts do. They were convinced that women's biological inheritance included many feminine characteristics and that their natural instincts suited them primarily for home making and childcare. They argued, however, that these differences do not justify the unfair treatment brought to them by society. For contemporary feminists, different processes of socialization account for a larger part of the observed differences in men's and women's behaviors, while biology plays only a minor role.

Feminism analyzes the various types of resistance the women's movement has encountered. These issues include sex role stereotyping, women's self-image and public image,

the social role of womanhood, and politics of patriarchal language. Feminist thought is centered round issues like women role in reproduction and the role of socialization in a male dominated social culture.

Women started questioning this enforced inactivity and their economic and social dependency on men. The transition through industrial organization to capitalism created various job opportunities to women in the fields of finance and business, but the economic independency was robbed by man though marriage.

Women were subjected to all kinds of restrictions, whereas men were enjoying several rights in society. In general established laws, customs, attitudes, and habits of thinking were slow to change, especially when they involved the acceptance of new ideas about women and their place in society.

By the 1830's and 1840's increasing efforts were made to awaken women to ask for full enfranchisement. Paullina Wright Davis, Lucretia Mott, Lucy Stone, Ernestine Rose, Abigail Kelley Foster, and Angelina and Sarah Crimka spoke out for women's rights. Books such as Margaret Fuller's *Women in the 19th Century* (1845) had an influence.

However, the credit for an organized movement for women's right goes to America, beginning with the Seneca Falls Declaration of Sentiments and Resolutions. In June 1848, Elizabeth Cady Stanton, Lucretia Mott, Martha C. Wright, and Mary Ann Mclintock issued a call for a convention to discuss the rights of women, meeting in the Wesleyan Chapel at Seneca Falls, New York, on July 19th and 20th 1848. The idea sprang up during a social gathering of Lucretia Mott, a Quaker preacher and veteran social activist, Martha Wright, Mary Ann McClintock, James Hunt, and Elizabeth Cady Stanton.

Stanton drafted 11 resolutions for the "Declaration of Sentiments" that guided the Seneca Falls Convention. With Frederick Douglass arguing eloquently on their behalf, all 11 resolutions passed, including the most radical demand and right to vote. As such the debates culminated in the first women's rights convention,

The convention adopted a Declaration of Principles patterned on the American Declaration of Independence. Signed by 68 women and 32 men, the *Seneca Falls Declaration* stated: "We hold these truth to be self evident that all men and women are created equal." The convention demanded for women the right of equal education and the right to preach, to teach, and to earn a livelihood. It also passed a resolution stating "that it is the sacred duty of the women of this country to secure to themselves their sacred right to the elective franchise." [3] Thus was laid the foundation for the woman suffrage movement in the United States.

The radical demand for suffrage at Seneca Falls carried the social of political revolution for women's rights into a new era. Special support for this historic event came from Elizabeth Cady Stanton. After a heated debate, the convention agreed to acknowledge the right of American women to elective franchise. A final clause to the resolution was added by Lucretia Mott urging men and women to work for professional and vocational equality. It was one of the historic events to note that one of the signatories of Seneca Falls Declaration, Charlotte Woodward Pierce, lived to vote until the Presidential election of the United States in 1920.

Though the Declaration never became an official manifesto of the movement, its philosophic rationale was taken for granted by the later advocates of women's rights. Only after the passing of the Nineteenth Amendment to the American Constitution in 1920, the document acquired historic value and became an inspiring symbol of the feminist movement.

The Seneca Falls convention was followed by conventions in other states of US in 1850. The first national convention was held in Worcester, Massachusetts, with delegates from nine

states present. Another convention held in Syracuse, New York in 1852 was significant because it marked the first joint venture of Susan B. Anthony and Elizabeth Cady Stanton, who for the next 50 years were in the forefront of the fight for equality for women in the US. The convention idea continued to spread until women in many States were gathering to launch educational and legislative programs to change the US constitution's and gain legal recognition of women's right to vote.

Even more basic to women's future than the pursuit of suffrage was the long struggle for the elimination of economic and social injustice to which they had been subjected for generations. Americans have matured during that era affected by three great wars. Working women advanced in respect of their better representation in the professions and in the labor force. Even though they gained an improved legal status in 1960s, the psychological wound as a result of the grievances of 1848 continued to cause pain. There was continuity of themes.[4]

Women's suffrage has dominated the international feminism for almost 70 years. At first, they based their demand for the vote on the Enlightenment Principle of Natural law, regularly invoking the concept of inalienable rights granted to all Americans by the Declaration of Independence. Charlotte Perkins Gilman in *Women and Economics* (1898) insisted that women would not be liberated until they were freed from the "demotic mythology" of home and family that kept them dependent on men.[5]

2. Suffrage Movement in Asia

Ironically, the world which had stepped into a modern phase had ruined the hopes and aspirations of women. But women did not remain silent and have been combating these obstacles to prove that they are in no way inferior to their counterparts. The right to vote became the basic demand of feminist movements because the election was considered to be the fundamental act of political life. The vote was essential because in the political arena the basic decisions are made that shape the patterns of society in which women live.

Most of the countries of Asia have granted women the right to vote following the end of World War I. During the period prior to World War II, the suffrage movement started to develop in Asia and the Middle East, though the religious tenants dominant in the area put serious obstacles in its path. Where girls were married at an early age, and where women were often considered little more than slaves, suffrage was difficult to achieve.

In 1930 women in Turkey won the vote in municipal elections; and in 1934 all restrictions were removed in Burma. Some women voted as early as 1922 in Burma, and equal voting rights were granted in 1935. In 1932, Thailand become the first Asian country to establish universal Suffrage, in 1937 the women of the Philippines gained the vote.

Changes occurred in India largely due to the leadership of Vijaya Lakshmi Pandit and the efforts of All India Women's Conference. By 1929 women in seven of the nine provinces had obtained the right to vote in provincial elections; in 1935 the vote was extended to a limited number of women in national elections. Ceylon (Sri Lanka) granted women the right to vote in 1931, subject to higher age requirements than men, however equal voting rights were gained in 1934.

After World War II, most of the remaining countries of the world granted the vote to women. There was a great change in public sentiment; the heroism and valor of women during the war years was rewarded by taking women into political partnership.

In the Far East, the women of Japan were enfranchised in 1946, in China in 1941, and in Korea in 1948. In the Middle East, however, women suffrage was slow to penetrate. In Iran limited

voting privileges in municipal elections were adopted in 1949 and on the national level in 1963. Women first voted in Lebanon in 1952 if they had a primary education, and gained full suffrage in 1957. In Syria and Egypt women were granted suffrage in 1949 to 1956, respectively, but subject to certain restrictions not imposed on men. Other Middle Eastern Countries followed same in the 1960's; but women remained disfranchised in Kuwait.

The philosophy underlying the demand for women's suffrage was the doctrine of natural rights. The woman suffrage movement itself was generally allied with other social reform movements, such as the abolition of slavery, temperance, and the extension of education. Although the movement was led primarily by women, it enlisted from the beginning the support of many men.

3. Globalization of Feminism

20th Century European and American feminism eventually reached into Asia, Africa and Latin America. As this happened, women in developed countries, especially the intellectuals were horrified to discover that women in some countries were required to wear veils public or to endure forced marriage, female infanticide, or widow burning. Many Western feminists soon perceived themselves as saviors of the third world women, little realizing that this perceptions and solutions to social problems were often differ with the real lives and concerns of women in these regions.

The conflicts between women in developed and developing nations have played out most vividly at international conferences. After the 1980 *World Conference of The United Nations Decade for Women: Equality, Development and Peace* conducted in Copenhagen, women from less developed nations complained that the veil for women and the female genital surgery had been chosen as conference priorities without consulting them. It seemed that their counterparts in the West were not listening to them.

During the 1994 *International Conference on Population and Development* in Cairo, women from the Third World Countries protested outside because they believed the agenda had been hijacked by Europeans and Americans. The protestors had expected to talk about ways that underdeveloped countries were holding their women in the state of backwardness. Instead, the conference organizers chose to focus on contraception and abortion. Third world women, especially scholars of Muslim women's rights noted that they could not very well worry about other matters of the veil for women and the female genital surgery when their children were dying from thirst, hunger or war. The Conference instead centered around reducing the numbers of third world babies in order to preserve the earth's resources, despite the fact that the first world really consumed much of these resources.

Feminism now achieved significant gains for women, with the eradication of female genital surgery in many African countries, and government efforts to end widow burning in India. More generally, and especially in the West feminism have influenced every aspect of contemporary life, communication, and debate, from highlighting the concern of the women and their rise in academic fields such as Women's Studies, Eco-Feminism, Sports, laws, and inequality in organized religion which have all been affecting the women in many parts of the world.

In the earlier phases of feminism, the feminists have focused largely on the reform of women's social position, arguing that they should have access to education, work or civil rights. During the latter half of the 20th Century, however, feminists become increasingly interested in the variety of social practices including theoretical ones through which our understanding of feminity

and masculinity are created and maintained. As a result, the scope of feminist enquiry has broadened to include, for example, jurisprudence, epistemology, and psychoanalysis.

Conclusion

The present day feminist thought encompasses a moral vision, and emerges as a holistic, anti-militaristic and life affirming philosophy. Feminism is committed to the struggle for equality of women, an effort to make women full human beings. However, the struggle for equal rights historically and politically emphasizes the value of women as they are. Feminism, as a philosophy of reform, envisages profound changes in traditional social structures, such as, the family, in the economic role and power of women, and finally in fundamental attitudes and personal relationships, leading to a just social order.

References

1. Boulding, Elise. *The Underside of History: A View of Women Through Time,* New Delhi: Sage Publications, 1992.
2. Davis, Elizabeth Gould. *The First Sex*, London: Heinemann, 1971.
3. De Beauvoir, Simone. *The Second Sex*, London: Pan Books Ltd., 1988.
4. Evans, Mary. (Ed.) *The Woman Question*, London: Sage Publications, 1994.
5. Friedan, Betty. *The Feminine Mystique*, New York: Dell Publishing Co. Inc., 1974.
6. Boorstin, Daniel J. (Ed.) *An American Primer*, New York: The New American Library, 1985.
7. Miles, Rosaland. *The Women's History of the World*, London: Paladin, 1989.
8. Rowbotham, Sheila. *Women*, *Resistance and Revolution*, London: The Penguin Press, 1972.
9. Snowden, Ethel. *The Feminist Movement*, London: Collins Clear Type Press, 1913.
10. Tong, Rosemarie. *Feminist Thought: A Comprehensive Introduction,* London: Routledge, 1989.

(International Refereed)

दर्शनशास्त्र

'द्रष्टा' रिसर्च जर्नल (ISSN : 2277-2480)

वर्ष:2, अंक:7, (जून 2013-अगस्त 2013) (पृ.सं. 26-29)

विशिष्टाद्वैत में 'ज्ञान' का स्वरूप

डॉ. ममता भाटी
असिस्टेंट प्रोफेसर
दर्शनशास्त्र–विभाग
महिला पी.जी. महाविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

शोध–आलेख सार

रामानुज का यह सिद्धान्त ज्ञान के सविषयत्व एवम् ब्रह्म के सगुणत्व का आधार है। उन्होंने निर्गुण या निर्विशेष का ज्ञान असम्भव माना है। उनका तर्क है कि यदि ब्रह्म निर्गुण है तो श्रुतियों से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता था। श्रुतियों में जहाँ भी ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका केवल यही तात्पर्य है कि ब्रह्म अन्य प्राकशतिक व हेय गुणों से रहित है। उनका यह भी तर्क है कि ज्ञान कभी निराश्रय नही होता है। वह अपने आश्रय से उसके गुण के रूप में संयुक्त रहता है। अतः कोई भी सत्ता जो ज्ञानमय है, निर्विशेष व निर्गुण नहीं है। रामानुज ब्रह्म को सविशेष व सगुण तथा ज्ञान को स्वयं प्रकाशक मानते हैं। ज्ञान के सविषयत्व का तथ्य हमारे अपने साक्षात् अनुभव या स्वानुभूति से भी स्पष्ट हो जाता है।

मुख्य शब्द : सविशेष ज्ञान, जड़ द्रव्य, अजड़ द्रव्य, प्रत्यक, पराक्, धर्मभूत व सारभूत ज्ञान।

रामानुज के सम्प्रदाय को वैष्णव मत का श्री सम्प्रदाय कहा जाता है। इसके दर्शन को विशिष्टाद्वैत मत के नाम से जाना जाता है। रामानुज के दर्शन में ज्ञान संबंधी धारणा उनके विशिष्टताद्वैत मत पर आधारित है।

सविषयक व सविशेष ज्ञान –

रामानुज सभी प्रकार के ज्ञान को अनिवार्य रूप में सविषयक व सविशेष मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है।[1] इसीलिए विषय को असत् या मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। विषय उतना ही सत्य है जितना ज्ञान सत्य है। विषय, आत्मा और उसके ज्ञान से स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष अस्तित्व रखता है। रामानुज का यह सिद्धान्त ज्ञान के सविषयत्व एवम् ब्रह्म के सगुणत्व का आधार है। उन्होंने निर्गुण या निर्विशेष का ज्ञान असम्भव माना है। उनका तर्क है कि यदि ब्रह्म निर्गुण है तो श्रुतियों से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता था। श्रुतियों में जहाँ भी ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका केवल यही तात्पर्य है कि ब्रह्म अन्य प्राकशतिक व हेय गुणों से रहित है। उनका यह भी तर्क है कि ज्ञान कभी निराश्रय नही होता है। वह अपने आश्रय से उसके गुण के रूप में संयुक्त रहता है। अतः कोई भी सत्ता जो ज्ञानमय है, निर्विशेष व निर्गुण नहीं है। रामानुज ब्रह्म को सविशेष व सगुण तथा ज्ञान को स्वयं प्रकाशक मानते हैं। ज्ञान के सविषयत्व का तथ्य हमारे अपने साक्षात् अनुभव या स्वानुभूति से भी स्पष्ट हो जाता है। अतः रामानुज ने ज्ञान को पराक् अजड़

द्रव्य कहा है जो आत्मा का गुण व स्वरूप दोनों ही है, तथा यह सविषयक व सविशेष है अर्थात ये किसी न किसी विषय का होता है।

उनके दर्शन में द्रव्य, जड़ और अजड़ के भेद से दो प्रकार का है। जड़ द्रव्य अचेतन एवम् अस्वयं प्रकाशित है जबकि अजड़ द्रव्य स्वयं प्रकाशित है। स्वयं प्रकाशित होने से यह अर्थ है कि बिना किसी आश्रय के स्वयं को स्वयं की सत्ता मात्र से प्रकाशित करना।[2] अजड़ द्रव्य को भी दो रूपों में विभाजित किया गया है।

1). प्रत्यक–जिसका अस्तित्व स्वयं से ही है एवं जिसमें स्वयं के स्वरूप की चेतना रहती है।

2). पराक्–जिसका अस्तित्व दूसरों के लिए है एवम् जिसमें अपने स्वरूप की चेतना का अभाव होता है। रामानुज के अनुसार ज्ञान पराक् अजड़ द्रव्य है जो स्वयं प्रकाश है किन्तु उसमें अपने स्वरूप की चेतना का अभाव रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अजड़ सदैव चेतन नहीं होता है। इस प्रकार रामानुज पराक् अजड़ द्रव्य के रूप में जड़ और चेतन से भिन्न एक तीसरी प्रकार की वस्तु को भी मानते हैं जो जड़ नहीं है किन्तु चेतन से भी भिन्न है। ज्ञान इसी प्रकार की वस्तु है। जड़ वस्तुओं से यह इस बात में भिन्न है कि यह किसी साध ान के बिना ही स्वयं को तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित कर सकता है जबकि जड़ वस्तुऐं ऐसा नहीं कर सकती हैं। लेकिन ज्ञान चेतन वस्तु (आत्मा) से भी भिन्न है क्योंकि यह जो कुछ भी प्रकाशित करता है वह स्वयं उसके लिए नहीं वरन् दूसरों के लिए होता है अर्थात् वह वस्तुओं को प्रदर्शित मात्र करता है, उन्हें जान नहीं सकता है जबकि आत्मा, रामानुज के अनुसार जानता तो है किन्तु अपने अतिरिक्त और किसी वस्तु को प्रदर्शित नहीं कर सकता है। अतः रामानुज के अनुसार ज्ञान एक ऐसा द्रव्य है जो कि स्वयं को तथा स्वयं के सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं को दूसरों के लिए प्रकाशित करता है।

धर्मभूत व सारभूत ज्ञान

रामानुज के अनुसार पराक् व अजड़ द्रव्य ज्ञान, चेतन एवं स्वयं प्रकाश आत्मा का तथा ईश्वर का अनिवार्य गुण है। साथ ही साथ यह आत्मा का स्वरूप भी है। असीम चैतन्य ब्रह्म एवम् सीमित चैतन्य जीव उस अनुभव के विषयी है जो ज्ञान को अपने से अपश्थक् गुण के रूप में रखते हैं। आत्मा व ईश्वर के गुण के रूप ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान कहा गया है। यह आत्मा में रहता है। आत्मा ही इस ज्ञान का आधार है क्योंकि आत्मा से अलग इसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। आत्मा और उसके धर्मभूत ज्ञान के बीच उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसे कि दीपक और उसके प्रकाश के बीच है। ज्ञान प्रकाश है और आत्मा दीपक है। जिस प्रकार दीपक से उसके प्रकाश की भिन्नता देखी जाती है परन्तु एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) आत्मा से भिन्न है किन्तु पश्थक् नहीं। प्रकाश के समान ज्ञान भी स्वयं को, आश्रय रूप आत्मा (दीपक) को तथा अन्य पदार्थो को प्रकाशित करता है।[3]

रामानुज के अनुसार ज्ञान आत्मा और ईश्वर का गुण ही नहीं वरन् उनका स्वभाव भी है जिस उन्होंने धर्मभूत ज्ञान या सारभूत ज्ञान कहा है।[4] यह ईश्वर और आत्मा का अपना स्वयं का ज्ञान है जबकि धर्मभूत ज्ञान विषयों का ज्ञान है।

रामानुज आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सूर्य की उपमा का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि सूर्य स्वयं प्रकाश रूप है किन्तु प्रकाश उसका गुण भी है जिससे वह अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है। सूर्य का प्रकाश अपने स्वयं के सम्बन्ध में प्रत्यक् है जो अन्य किसकी के लिए नहीं है। वह स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है किन्तु उसी प्रकाश से जब अन्य वस्तुऐं प्रकाशित होती है तो वह पराक् है जो कि अन्य के लिए है। आत्मा की सत्ता

प्रत्यक् होते हुए भी धर्मभूत ज्ञान की दशष्टि से वह पराक् है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान स्वरूप भी है तथा ज्ञान का आश्रय भी है। उसमें धर्मीज्ञान भी तथा धर्मभूत ज्ञान भी है।

रामानुज के अनुसार ज्ञान द्रव्य होने से उसमें संकोच–विकास रूप परिवर्तन होता है। ज्ञान का यह संकोच और विकास ही उसका नाश या प्रादुर्भाव कहलाता है। धर्मभूत ज्ञान में संकोच–विकास रूप परिवर्तन अविद्याजन्य कर्मों के द्वारा ही सम्भव है। कर्म ज्ञान को शरीर से एकाकार कर उसे संकुचित कर देते हैं। इस प्रकार जो ज्ञान असीम होने की क्षमता रखता है उसे सशरीरीय अवस्था में अविद्याजन्य कर्मों द्वारा सीमित कर दिया जाता है। ''जबकि ईश्वर का धर्मभूत ज्ञान सदैव सर्वव्यापक रहता है। उसका संकोच–विस्तार नहीं होने से वह सदैव नित्य व विभु रहता है यद्यपि उसका रूप अवश्य बदलता रहता है। वस्तुतः धर्मभूत ज्ञान का परिमित अस्तित्व ही जीव और ब्रह्म की अवस्थाओं में भेद का मुख्य कारण है। धर्मभूत ज्ञान आत्मा का अपृथकसिद्ध विशेषण है जिसका उसमें कभी भी अभाव नहीं होता है। परिवर्तनशील होते हुए भी यह जीव की समस्त अवस्थाओं में बना रहता है। सुषुप्ति व मूर्च्छा की अवस्था में भी इसका अस्तित्व बना रहता है। अर्द्ध चेतन अवस्था में ज्ञान का प्रकाश मन्द रहता है। जबकि जाग्रत अवस्था में यह निरन्तर स्पष्ट तथा विशिष्ट होता है। और मुक्ति की अवस्था में इसका रूप दिव्य एवम् सुस्पष्ट होता है। इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान में परिवर्तन अविद्याजन्य कर्म के फलस्वरूप आत्मा और उसके चैतन्य की बदलती हुइ अवस्थाओं के कारण होता है। ज्ञान की अव्यक्त अवस्था वास्तविक सम्भावना के रूप में ज्ञान ही है जो कि कर्म रूप बाधाओं के हट जाने पर स्वयं ही प्रकट हो जाता है। मुक्ति की अवस्था में जब ये बाधाऐं पूर्णतया व सर्वदा के लिए हट जाती हैं। तब ज्ञान अपने नित्य व असीम वैभव के साथ प्रकाशित होता है। इस प्रकार इस अवस्था में अणुरूप आत्मा अपने ज्ञानरूपी प्रकाश को सर्वत्र बिखेरता है क्योंकि इस अवस्था में अविद्या कर्म की निवृत्ति से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार ज्ञान अपरिवर्तनशील एवम् परिवर्तनशील द्रव्य और गुण ये दोनों ही है। ज्ञान स्वयं प्रकाशित है तथा स्वयं प्रकाशित होने के कारण यह उन समस्त वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है जिनसे इसका सम्पर्क होता है। रामानुज ने ज्ञान को मति, प्रज्ञा, सवित, अनुभूति एवं चेतना भी कहा है।

ज्ञान प्रक्रिया

धर्मभूतज्ञान अपिरवर्तनशील आत्मा का गुण होते हुए भी संकोच एवं विकास रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। बंधन या सशरीरीय अवस्था में भी समस्त प्रकार के अनुभव का आध ाार आत्मा ही होता है। इस अवस्था में जीवात्मा शरीर, मन व इन्द्रियों से सम्बद्ध रहता है। अतः इस अवस्था में बाह्य वस्तुओं, जो कि ज्ञाता–आत्मा और उसके ज्ञान इस दोनों से स्वतन्त्र निरपेक्ष अस्तित्व रखती है, को जानने या उन्हें प्रकाशित करने के लिए धर्मभूत ज्ञान, मनस या इन्द्रिय सहायता प्राप्त मनस द्वारा कार्य करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में धर्मभूत ज्ञान आत्मा से आरम्भ होकर मनस से होता हुआ इन्द्रिय में पहुचँता है, तत्पश्चात् इन्द्रिय से बाहर निकल कर उस विषय के सम्पर्क में आता है,[5] जो कि इन्द्रिय को प्रभावित करता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ और मनस वे भौतिक आधार हैं, जिनके माध्यम से धर्मभूत ज्ञान अपनी समग्रता के साथ प्रकट होकर विषयों को प्रकाशित करता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय के साथ तत्काल और सीधा संयोग होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध की इन्द्रियाँ बाह्य विषयों का साधन है जबकि मन आन्तरिक इन्द्रिय है जो कि स्मृति आदि का साधन है। बुद्धि, अहंकार व चित्त इसी एक आन्तरिक इन्द्रिय मनस की भिन्न–भिन्न वृत्तियाँ अर्थात् अध्यवसाय, अभिमान व चिन्तन को सन्दर्भित करती है। मनस रूप आन्तरिक

इन्द्रिय का यह संगठन ही बन्धन व मुक्ति का कारण है। बुद्धि, अहंकार व चित्त रूप मनस इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों के प्रकाशन में सहायता तो करता ही है, यह आन्तरिक अवस्थाओं का प्रकाशन भी करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न अनुमान, शब्द आदि में धर्मभूत ज्ञान मनस की सहायता से ही विषयों का प्रकाशन करता है और आत्मा को उनका ज्ञान कराता है। इस प्रकार रामानुज के दर्शन में समस्त प्रकार का अनुभव या ज्ञान धर्मभूत ज्ञान का ही रूपान्तरण है। विषयों के ज्ञान के साथ–साथ, सुख–दुख, इच्छा क्रोध आदि आन्तरिक अवस्थाऐं भी धर्मभूत ज्ञान के ही रूपान्तर हैं। जहाँ तक ज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध का प्रश्न है रामानुज इन दोनों में संयोग सम्बन्ध मानने के पक्षधर हैं। इनके मतानुसार स्वयं विषय ज्ञान के अन्तर्गत प्रकाशित होता है। शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के ज्ञान में विषय इन्द्रियों तक पहुँचता है। जबकि रूप के ज्ञान में नेत्र इन्द्रिय वृत्ति के द्वारा विषय के सम्पर्क में आता है। वृत्ति इन्द्रियों का ही विशिष्ट रूपान्तरण है जो कि इन्द्रिय को विषय से सम्बन्धित करती है। रामानुज इस मान्यता के पक्षधर हैं कि द्रव्य एवम् गुण अपृथक हैं तथापि वे तद्रूप नहीं हैं। यदि वे तद्रूप होते तो किसी भी प्रकार की ज्ञान प्रक्रिया सम्भव नहीं होती । उनका यह मानना है कि इन्द्रिय विषय का सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। 1. संयोग व 2. संयुक्ताश्रय। द्रव्य का प्रत्यक्ष संयोग सम्बन्ध के कारण होता है। लेकिन गुण के प्रत्यक्षीकरण में इन्द्रियाँ द्रव्य के गुण के सम्पर्क में आती है और यह प्रत्यक्षीकरण संयुक्ताश्रय सम्बन्ध के कारण होता है।[6] गुण, द्रव्य पर आश्रित है इसलिए उनका ग्रहण द्रव्य से अलग करके नहीं हो सकता है। द्रव्य और गुण का संयुक्त प्रत्यक्ष होने के कारण गुणों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और उसके विषय में संयुक्ताश्रय सम्बन्ध माना गया है।

इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से बाहर निकलकर वस्तु (द्रव्य) से संयुक्त होता है।[7] तथा उस वस्तु की जानकारी अपने आधार अर्थात् ज्ञाता आत्मा को कराता है। अतः रामानुज का यह मत है कि जीव के कर्मों के कारण धर्मभूत ज्ञान में संकोच व विकास होता रहता है, लेकिन उसका कभी अभाव नहीं रहता है। जीवात्मा की भाँति ईश्वर में भी धर्मभूत ज्ञान माना गया है ईश्वर की समस्त मानसिक अवस्थाऐं उसके धर्मभूत ज्ञान के ही रूपान्तर है।

----------संदर्भ----------

1 ''न च निर्विषया काचित्संविदस्ति – अनुपलब्धे'' – श्रीभाष्य 1–1–1

2 ''स्वयं प्रकाशता तु स्वसन्तेयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानयता। – श्री भाष्य 1–1–1

3 ''स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद् विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। यत्वनुभूतेः स्वयम्प्रकाशत्वमुक्त, तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वश तथैवेति नियमोऽस्ति।'' – श्रीभाष्य 1–1–1. प्रस्तोता श्री ललित कृष्ण गोस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य पीठ, 12 महाजनी टोला प्रयाग।

4 ''विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः। विज्ञान मेवास्य सारभूतो गुणः।'' – श्रीभाष्य 2–3–29.

5 ''आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमयेनिति।'' – यतीन्द्रमतदीपिका अध्याय 1, श्लोक 14 पृ. 9.

6 ''द्रव्यग्रहणे, संयोगः सम्बन्ध। द्रव्यगतरूपादिग्रहणे समवानाङ्गीकारात् संयुक्ताश्रयणसम्बन्ध ः। – यतीन्द्रमतदीपिका – अ. 1, श्लोक 15, पृ. 10.

7 यतीन्द्रमतदीपिका अध्याय 7, श्लोक 3, पृ. 81.